श्री राम-भरत संवाद

चौपाई :

*** सभा सकुच बस भरत निहारी। राम बंधु धरि धीरजु भारी॥ कुसमउ देखि सनेहु सँभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥1॥

भावार्थ:

भरतजी ने सभा को संकोच के वश देखा। रामबंधु (भरतजी) ने बड़ा भारी धीरज धरकर और कुसमय देखकर अपने (उमड़ते हुए) प्रेम को संभाला, जैसे बढ़ते हुए विन्ध्याचलको अगस्त्यजी ने रोका था॥1॥

*** सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल गुन गन जगजोनी॥ भरत बिबेक बराहँ बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥2॥

भावार्थ:

शोक रूपी हिरण्याक्ष ने (सारी सभा की) बुद्धि रूपी पृथ्वी को हर लिया जो विमल गुण समूह रूपी जगत की योनि (उत्पन्न करने वाली) थी। भरतजी के विवेक रूपी विशाल वराह (वराह रूप धारी भगवान) ने (शोक रूपी हिरण्याक्ष को नष्ट कर) बिना ही परिश्रम उसका उद्धार कर दिया!॥2॥

*** करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे। रामु राउ गुर साधु निहोरे॥ छमब आजु अतिअनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥3॥

भावार्थ:

भरतजी ने प्रणाम करके सबके प्रति हाथ जोड़े तथा श्री रामचन्द्रजी, राजा जनकजी, गुरु वशिष्ठजी और साधु-संत सबसे विनती की और कहा- आज मेरे इस अत्यन्त अनुचित बर्ताव को क्षमा कीजिएगा। मैं कोमल (छोटे) मुख से कठोर (धृष्टतापूर्ण) वचन कह रहा हूँ॥3॥

*** हियँ सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥ बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥4॥

भावार्थ:

फिर उन्होंने हृदय में सुहावनी सरस्वती का स्मरण किया। वे मानस से (उनके मन रूपी मानसरोवर से) उनके मुखारविंद पर आ विराजीं। निर्मल विवेक, धर्म और नीति से युक्त भरतजी की वाणी सुंदर हंसिनी (के समान गुण-दोष का विवेचन करने वाली) है॥4॥

दोहा :

*** निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेहँ समाजु। करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु॥297॥

भावार्थ:

विवेक के नेत्रों से सारे समाज को प्रेम से शिथिल देख, सबको प्रणाम कर, श्री सीताजी और श्री रघुनाथजी का स्मरण करके भरतजी बोले-॥297॥

चौपाई :

*** प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी॥ सरल सुसाहिबु सीलनिधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥1॥

भावार्थ:

हे प्रभु! आप पिता, माता, सुहृद् (मित्र), गुरु, स्वामी, पूज्य, परम हितैषी और अन्तर्यामी हैं। सरल हृदय, श्रेष्ठ मालिक, शील के भंडार, शरणागत की रक्षा करने वाले, सर्वज्ञ, सुजान,॥1॥

*** समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहकु अवगुन अघ हारी॥ स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं साइँ दोहाईं॥2॥

भावार्थ:

समर्थ, शरणागत का हित करने वाले, गुणों का आदर करने वाले और अवगुणों तथा पापों कोहरने वाले हैं। हे गोसाईं! आप सरीखे स्वामी आप ही हैं और स्वामी के साथ द्रोह करने में मेरे समान मैं ही हूँ॥2॥

*** प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आयउँ इहाँ समाजु सकेली॥ जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिअ अमरपद माहु रु मीचू॥3॥

भावार्थ:

मैं मोहवश प्रभु (आप) के और पिताजी के वचनों का उल्लंघन कर और समाज बटोरकर यहाँ आया हूँ। जगत में भलेबुरे, ऊँचे और नीचे, अमृत और अमर पद (देवताओं का पद), विष और मृत्यु आदि-॥3॥

*** राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥ सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥4॥

भावार्थ:

किसी को भी कहीं ऐसा नहीं देखा-सुना जो मन में भी श्री रामचन्द्रजी (आप) की आज्ञा को मेट दे। मैंने सब प्रकार से वही ढिठाई की, परन्तु प्रभु ने उस ढिठाई को स्नेह और सेवा मान लिया!॥4॥

दोहा :

*** कृपाँ भलाईं आपनी नाथ कीन्ह भल मोर। दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहुँ ओर॥298॥

भावार्थ:

हे नाथ! आपने अपनी कृपा और भलाई से मेरा भला किया, जिससे मेरे दूषण (दोष) भी भूषण (गुण) के समान हो गए और चारों ओर मेरा सुंदर यश छा गया॥298॥

चौपाई :

*** राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥ कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥1॥

भावार्थ:

हे नाथ! आपकी रीति और सुंदर स्वभाव की बड़ाई जगत में प्रसिद्ध है और वेद-शास्त्रों ने गाई है। जो क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुबुद्धि, कलंकी, नीच, शीलरहित, निरीश्वरवादी (नास्तिक) और निःशंक (निडर) है॥1॥

*** तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥ देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥2॥

भावार्थ:

उन्हें भी आपने शरण में सम्मुख आया सुनकर एक बार प्रणाम करने पर ही अपना लिया। उन (शरणागतों) के दोषों को देखकर भी आप कभी हृदय में नहीं लाए और उनके गुणों को सुनकर साधुओं के समाज में उनका बखान किया॥2॥

*** को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी॥ निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपनें॥3॥

भावार्थ:

ऐसा सेवक पर कृपा करने वाला स्वामी कौन है, जो आप ही सेवक का सारा साज-सामान सज दे (उसकी सारी आवश्यकताओं को पूर्ण कर दे) और स्वप्न में भी अपनी कोई करनी न समझकर (अर्थात मैंने सेवक के लिए कुछ किया है, ऐसा न जानकर) उलटा सेवक को संकोच होगा, इसका सोच अपने हृदय में रखे!॥3॥

*** सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥ पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना। गुन गति नट पाठक आधीना॥4॥

भावार्थ:

मैं भुजा उठाकर और प्रण रोपकर (बड़े जोर के साथ) कहता हूँ, ऐसा स्वामी आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है। (बंदर आदि) पशु नाचते और तोते (सीखे हुए) पाठ में प्रवीण हो जाते हैं, परन्तु तोते का (पाठ प्रवीणता रूप) गुण और पशु के नाचने की गति (क्रमशः) पढ़ाने वाले और नचाने वाले के अधीन है॥4॥

दोहा :

*** यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर। को कृपाल बिनु पलिहै बिरिदावलि बरजोर॥299॥

भावार्थ:

इस प्रकार अपने सेवकों की (बिगड़ी) बात सुधारकर और सम्मान देकर आपने उन्हें साधुओं का शिरोमणि बना दिया। कृपालु (आप) के सिवा अपनी विरदावली का और कौन जबर्दस्ती (हठपूर्वक) पालन करेगा?॥299॥

चौपाई :

*** सोक सनेहँ कि बाल सुभाएँ। आयउँ लाइ रजायसु बाएँ॥ तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा॥1॥

भावार्थ:

मैं शोक से या स्नेह से या बालक स्वभाव से आज्ञा को बाएँ लाकर (न मानकर) चला आया, तो भी कृपालु स्वामी (आप) ने अपनी ओर देखकर सभी प्रकार से मेरा भला ही माना (मेरे इस अनुचित कार्य को अच्छा ही समझा)॥1॥

*** देखेउँ पाय सुमंगल मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला। बड़ें समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ीं चूक साहिब अनुरागू॥2॥

भावार्थ:

मैंने सुंदर मंगलों के मूल आपके चरणों का दर्शन किया और यह जान लिया कि स्वामी मुझ पर स्वभाव से ही अनुकूल हैं। इस बड़े समाज में अपने भाग्य को देखा कि इतनी बड़ी चूक होने पर भी स्वामी का मुझ पर कितना अनुराग है!॥2॥

*** कृपा अनुग्रहु अंगु अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई॥ राखा मोर दुलार गोसाईं। अपनें सील सुभायँ भलाई॥3॥

भावार्थ:

कृपानिधान ने मुझ पर सांगोपांग भरपेट कृपा और अनुग्रह, सब अधिक ही किए हैं (अर्थात मैं जिसके जरा भी लायक नहीं था, उतनी अधिक सर्वांगपूर्ण कृपा आपने मुझ परकी है)। हे गोसाईं! आपने अपने शील, स्वभाव और भलाई से मेरा दुलार रखा॥3॥

*** नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि समाज सकोच बिहाई॥ अबिनय बिनय जथारुचि बानी। छमिहि देउ अति आरति जानी॥4॥

भावार्थ:

हे नाथ! मैंने स्वामी और समाज के संकोच को छोड़कर अविनय या विनय भरी जैसी रुचि हुई वैसी ही वाणी कहकर सर्वथा ढिठाई की है। हे देव! मेरे आर्तभाव (आतुरता) को जानकर आप क्षमा करेंगे॥4॥

दोहा :

*** सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहबबड़ि खोरि। आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि॥300॥

भावार्थ:

सुहृद् (बिना ही हेतु के हित करने वाले), बुद्धिमान और श्रेष्ठ मालिक से बहुत कहना बड़ा अपराध है, इसलिए हे देव! अब मुझे आज्ञा दीजिए, आपने मेरी सभी बात सुधार दी॥300॥

चौपाई :

*** प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सीवँ सुहाई॥ सो करि कहउँ हिए अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥1॥

भावार्थ:

प्रभु (आप) के चरणकमलों की रज, जो सत्य, सुकृत (पुण्य) और सुख की सुहावनी सीमा (अवधि) है, उसकी दुहाई करके मैं अपने हृदय को जागते, सोते और स्वप्न में भी बनी रहने वाली रुचि (इच्छा) कहता हूँ॥1॥

*** सहज सनेहँ स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥ अग्यासम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा।2॥

भावार्थ:

वह रुचि है- कपट, स्वार्थ और (अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष रूप) चारों फलों को छोड़कर स्वाभाविक प्रेम से स्वामी की सेवा करना। और आज्ञा पालन के समान श्रेष्ठ स्वामी की और कोई सेवा नहीं है। हे देव! अब वही आज्ञा रूप प्रसाद सेवक को मिल जाए॥2॥

*** अस कहि प्रेम बिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥ प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥3॥

भावार्थ:

भरतजी ऐसा कहकर प्रेम के बहुत ही विवश हो गए। शरीर पुलकित हो उठा, नेत्रों में (प्रेमाश्रुओं का) जल भर आया। अकुलाकर (व्याकुल होकर) उन्होंने प्रभु श्रीरामचन्द्रजी के चरणकमल पकड़ लिए। उस समय को और स्नेह को कहा नहीं जा सकता॥3॥

*** कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥ भरत बिनय सुनिदेखि सुभाऊ। सिथिल सनेहँ सभा रघुराऊ॥4॥

भावार्थ:

कृपासिन्धु श्री रामचन्द्रजी ने सुंदर वाणी से भरतजी का सम्मान करके हाथ पकड़कर उनको अपने पास बिठा लिया। भरतजी की विनती सुनकर और उनका स्वभाव देखकर सारी सभा और श्री रघुनाथजी स्नेह से शिथिल हो गए॥4॥

छन्द :

*** रघुराउ सिथिल सनेहँ साधु समाज मुनि मिथिला धनी। मन महुँ सराहत भरत भायप भगति की महिमा घनी॥ भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से। तुलसी बिकल सब लोग

सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥
भावार्थ:
श्री रघुनाथजी, साधुओं का समाज, मुनि वशिष्ठजी और मिथिलापति जनकजी स्नेह से शिथिल हो गए। सब मन ही मन भरतजी के भाईपन और उनकी भक्ति की अतिशय महिमा को सराहने लगे। देवता मलिन से मन से भरतजी की प्रशंसा करते हुए उन पर फूलबरसाने लगे। तुलसीदासजी कहते हैं- सब लोग भरतजी का भाषण सुनकर व्याकुल हो गए और ऐसे सकुचा गए जैसे रात्रि के आगमन से कमल! सोरठा :
*** देखि दुखारी दीन दुहु समाज नर नारि सब। मघवा महा मलीन मुए मारि मंगल चहत॥301॥
भावार्थ:
दोनों समाजों के सभी नर-नारियों को दीन और दुःखी देखकर महामलिन मन इन्द्र मरे हुओं को मारकर अपना मंगल चाहता है॥301॥

चौपाई :
*** कपट कुचालि सीवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥ काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥1॥
भावार्थ:
देवराज इन्द्र कपट और कुचाल की सीमा है। उसे पराई हानि और अपना लाभ ही प्रिय है। इन्द्र की रीति कौए के समान है। वह छली और मलिन मन है, उसका कहीं किसी पर विश्वास नहीं है॥1॥
*** प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला। सो उचाटु सब कें सिर मेला॥ सुरमायाँ सब लोग बिमोहे। राम प्रेम अतिसय न बिछोहे॥2॥
भावार्थ:
पहले तो कुमत (बुरा विचार) करके कपट को बटोरा (अनेक प्रकार के कपट का साज सजा)। फिर वह (कपटजनित) उचाट सबके सिर पर डाल दिया। फिर देवमाया से सब लोगों को विशेष रूप से मोहित कर दिया, किन्तु श्रीरामचन्द्रजी के प्रेम से उनका अत्यन्त बिछोह नहीं हुआ (अर्थात उनका श्रीरामजी के प्रति प्रेम कुछ तो बना ही रहा)॥2॥
*** भय उचाट बस मन थिर नाहीं। छन बन रुचि छन सदन सोहाहीं॥ दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी॥3॥
भावार्थ:
भय और उचाट के वश किसी का मन स्थिर नहीं है। क्षण में उनकी वन में रहने की इच्छा होती है और क्षण में उन्हें घर अच्छे लगने लगते हैं। मन की इस प्रकार की दुविधामयी स्थिति से प्रजा दुःखी हो रही है। मानो नदी और समुद्र के संगम का जल क्षुब्ध हो रहा हो। (जैसे नदी और

समुद्र के संगम का जल स्थिर नहीं रहता, कभी इधर आता और कभी उधर जाता है, उसी प्रकार की दशा प्रजा के मन की हो गई)॥3॥

*** दुचित कतहुँ परितोषु न लहहीं। एक एक सन मरमु न कहहीं॥ लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू॥4॥

भावार्थ:

चित्त दो तरफा हो जाने से वे कहीं संतोष नहीं पाते और एक-दूसरे से अपना मर्म भी नहीं कहते। कृपानिधान श्री रामचन्द्रजी यह दशा देखकर हृदय में हँसकर कहने लगे- कुत्ता, इन्द्र और नवयुवक (कामी पुरुष) एक सरीखे (एक ही स्वभाव के) हैं। (पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, श्वन, युवन और मघवन शब्दों के रूप भी एक सरीखे होते हैं)॥4॥

दोहा :

*** भरतु जनकु मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहि जथाजोगु जनु पाइ॥302॥

भावार्थ:

भरतजी, जनकजी, मुनिजन, मंत्री और ज्ञानी साधु-संतों को छोड़कर अन्य सभी पर जिस मनुष्य को जिस योग्य (जिस प्रकृति और जिस स्थिति का) पाया, उस पर वैसे ही देवमाया लग गई॥302॥

चौपाई :

*** कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेहँ सुरपति छल भारे॥ सभा राउ गुर महिसुर मंत्री। भरत भगति सब कै मति जंत्री॥1॥

भावार्थ:

कृपासिंधु श्री रामचन्द्रजी ने लोगों को अपने स्नेह और देवराज इन्द्र के भारी छल से दुःखी देखा। सभा, राजा जनक, गुरु, ब्राह्मण और मंत्री आदि सभी की बुद्धि को भरतजी की भक्ति ने कील दिया॥1॥

*** रामहि चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से॥ भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥2॥

भावार्थ:

सब लोग चित्रलिखे से श्री रामचन्द्रजी की ओर देख रहे हैं। सकुचाते हुए सिखाएहुए से वचन बोलते हैं। भरतजी की प्रीति, नम्रता, विनय और बड़ाई सुनने में सुख देने वाली है, पर उसका वर्णन करने में कठिनता है॥2॥

*** जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेम मगन मुनिगन मिथिलेसू॥ महिमा तासु कहै किमि तुलसी। भगति सुभायँ सुमति हियँ हुलसी॥3॥

भावार्थ:

जिनकी भक्ति का लवलेश देखकर मुनिगण और मिथिलेश्वर जनकजी प्रेम में मग्न हो गए, उन भरतजी की महिमा तुलसीदास कैसे कहे? उनकी भक्ति और सुंदर भाव से (कवि के) हृदय में सुबुद्धि हुलस रही है (विकसित हो रही है)॥3॥

*** आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी॥ कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मति गति बाल बचन की नाई॥4॥

भावार्थ:

परन्तु वह बुद्धि अपने को छोटी और भरतजी की महिमा को बड़ी जानकर कवि परम्परा की मर्यादा को मानकर सकुचा गई (उसका वर्णन करने का साहस नहीं कर सकी)। उसकी गुणों में रुचि तो बहुत है, पर उन्हें कह नहीं सकती। बुद्धि की गति बालक के वचनों की तरह हो गई (वह कुण्ठित हो गई)!॥4॥

दोहा :

*** भरत बिमल जसु बिमल बिधु सुमति चकोरकुमारि। उदित बिमल जन हृदय नभ एकटक रही निहारि॥303॥

भावार्थ:

भरतजी का निर्मल यश निर्मल चन्द्रमा है और कवि की सुबुद्धि चकोरी है, जो भक्तों के हृदय रूपी निर्मल आकाश में उस चन्द्रमा को उदित देखकर उसकी ओर टकटकी लगाए देखती ही रह गई है (तब उसका वर्णन कौन करे?)॥303॥

चौपाई :

*** भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥ कहत सुनत सति भाउ भरत को। सीय राम पद होइ न रत को॥1॥

भावार्थ:

भरतजी के स्वभाव का वर्णन वेदों के लिए भी सुगम नहीं है। (अतः) मेरी तुच्छ बुद्धि की चंचलता को कवि लोग क्षमा करें! भरतजी के सद्भाव को कहते-सुनते कौन मनुष्य श्री सीता-रामजी के चरणों में अनुरक्त न हो जाएगा॥1॥

*** सुमिरत भरतहि प्रेमु राम को। जेहि न सुलभु तेहि सरिस बाम को॥ देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥2॥

भावार्थ:

भरतजी का स्मरण करने से जिसको श्री रामजी का प्रेम सुलभ न हुआ, उसके समान वाम (अभागा) और कौन होगा? दयालु और सुजान श्री रामजी ने सभी की दशा देखकर और भक्त (भरतजी) के हृदय की स्थिति जानकर,॥2॥

*** धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥ देसु कालु लखि समउ समाजू।

नीति प्रीति पालक रघुराजू॥3॥
भावार्थ:
धर्मधुरंधर, धीर, नीति में चतुर, सत्य, स्नेह, शील और सुख के समुद्र, नीति और प्रीति के पालन करने वाले श्री रघुनाथजी देश, काल, अवसर और समाज को देखकर,॥3॥
*** बोले बचन बानि सरबसु से। हित परिनाम सुनत ससि रसु से॥ तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥4॥
भावार्थ:
(तदनुसार) ऐसे वचन बोले जो मानो वाणी के सर्वस्व ही थे, परिणाम में हितकारी थे और सुनने में चन्द्रमा के रस (अमृत) सरीखे थे। (उन्होंने कहा-) हे तात भरत! तुम धर्म की धुरी को धारण करने वाले हो, लोक और वेद दोनों के जानने वाले और प्रेम में प्रवीण हो॥4॥
दोहा :
*** करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात। गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमयँकिमि कहि जात॥304॥
भावार्थ:
हे तात! कर्म से, वचन से और मन से निर्मल तुम्हारे समान तुम्हीं हो। गुरुजनोंके समाज में और ऐसे कुसमय में छोटे भाई के गुण किस तरह कहे जा सकते हैं?॥304॥

चौपाई :
*** जानहु तात तरनि कुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥ समउ समाजु लाज गुरजन की। उदासीन हित अनहित मन की॥1॥
भावार्थ:
हे तात! तुम सूर्यकुल की रीति को, सत्यप्रतिज्ञ पिताजी की कीर्ति और प्रीति को, समय, समाज और गुरुजनों की लज्जा (मर्यादा) को तथा उदासीन, मित्र और शत्रु सबके मन की बात को जानते हो॥1॥
*** तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥ मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर अनुसारा॥2॥
भावार्थ:
तुमको सबके कर्मों (कर्तव्यों) का और अपने तथा मेरे परम हितकारी धर्म का पता है। यद्यपि मुझे तुम्हारा सब प्रकार से भरोसा है, तथापि मैं समय के अनुसार कुछ कहता हूँ॥2॥
*** तात तात बिनु बात हमारी। केवल गुरकुल कृपाँ सँभारी॥ नतरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहि सहित सबु होत खुआरू॥3॥
भावार्थ:

हे तात! पिताजी के बिना (उनकी अनुपस्थिति में) हमारी बात केवल गुरुवंश की कृपा ने ही सम्हाल रखी है, नहीं तो हमारे समेत प्रजा, कुटुम्ब, परिवार सभी बर्बाद हो जाते॥3॥

*** जौं बिनु अवसर अथवँ दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू॥ तस उतपातु तात बिधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सबु लीन्हा॥4॥

भावार्थ:

यदि बिना समय के (सन्ध्या से पूर्व ही) सूर्य अस्त हो जाए, तो कहो जगत में किस को क्लेश न होगा? हे तात! उसी प्रकार का उत्पात विधाता ने यह (पिता की असामयिक मृत्यु) किया है। पर मुनि महाराज ने तथा मिथिलेश्वर ने सबको बचा लिया॥4॥

दोहा :

*** राज काज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम। गुर प्रभाउ पालिहि सबहि भल होइहि परिनाम॥305॥

भावार्थ:

राज्य का सब कार्य, लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, पृथ्वी, धन, घर- इन सभी का पालन (रक्षण) गुरुजी का प्रभाव (सामर्थ्य) करेगा और परिणाम शुभ होगा॥305॥

चौपाई :

*** सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥ मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥1॥

भावार्थ:

गुरुजी का प्रसाद (अनुग्रह) ही घर में और वन में समाज सहित तुम्हारा और हमारा रक्षक है। माता, पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा (का पालन) समस्त धर्म रूपी पृथ्वी को धारण करने में शेषजी के समान है॥1॥

*** सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥ साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥2॥

भावार्थ:

हे तात! तुम वही करो और मुझसे भी कराओ तथा सूर्यकुल के रक्षक बनो। साधक केलिए यह एक ही (आज्ञा पालन रूपी साधना) सम्पूर्ण सिद्धियों की देने वाली, कीर्तिमयी, सद्गतिमयी और ऐश्वर्यमयी त्रिवेणी है॥2॥

*** सो बिचारि सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवारू सुखारी॥ बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥3॥

भावार्थ:

इसे विचारकर भारी संकट सहकर भी प्रजा और परिवार को सुखी करो। हे भाई! मेरी विपत्ति सभी

ने बाँट ली है, परन्तु तुमको तो अवधि (चौदह वर्ष) तक बड़ी कठिनाई है (सबसे अधिक दुःख है)॥3॥

*** जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥ होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के धाए॥4॥

भावार्थ:

तुमको कोमल जानकर भी मैं कठोर (वियोग की बात) कह रहा हूँ। हे तात! बुरे समय में मेरे लिए यह कोई अनुचित बात नहीं है। कुठौर (कुअवसर) में श्रेष्ठ भाई ही सहायक होते हैं। वज्र के आघात भी हाथ से ही रोके जाते हैं॥4॥

दोहा :

*** सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ। तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥306॥

भावार्थ:

सेवक हाथ, पैर और नेत्रों के समान और स्वामी मुख के समान होना चाहिए। तुलसीदासजी कहते हैं कि सेवक-स्वामी की ऐसी प्रीति की रीति सुनकर सुकवि उसकी सराहना करते हैं॥306॥

चौपाई :

*** सभा सकल सुनि रघुबर बानी। प्रेम पयोधि अमिअँ जनु सानी॥ सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी॥1॥

भावार्थ:

श्री रघुनाथजी की वाणी सुनकर, जो मानो प्रेम रूपी समुद्र के (मंथन से निकले हुए) अमृत में सनी हुई थी, सारा समाज शिथिल हो गया, सबको प्रेम समाधि लग गई। यह दशा देखकर सरस्वती ने चुप साध ली॥1॥

*** भरतहि भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू॥ मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू॥2॥

भावार्थ:

भरतजी को परम संतोष हुआ। स्वामी के सम्मुख (अनुकूल) होते ही उनके दुःख और दोषों ने मुँह मोड़ लिया (वे उन्हें छोड़कर भाग गए)। उनका मुख प्रसन्न हो गया और मन का विषाद मिट गया। मानो गूँगे पर सरस्वती की कृपा हो गई हो॥2॥

*** कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानि पंकरुह जोरी॥ नाथ भयउ सुखु साथ गए को। लहेउँ लाहु जग जनमु भए को॥3॥

भावार्थ:

उन्होंने फिर प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और करकमलों को जोड़कर वे बोले- हे नाथ! मुझे आपके साथ

जाने का सुख प्राप्त हो गया और मैंने जगत में जन्म लेने का लाभ भी पा लिया।3॥

*** अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥ सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥4॥

भावार्थ:

हे कृपालु! अब जैसी आज्ञा हो, उसी को मैं सिर पर धर कर आदरपूर्वक करूँ! परन्तु देव! आप मुझे वह अवलम्बन (कोई सहारा) दें, जिसकी सेवा कर मैं अवधि का पार पा जाऊँ (अवधि को बिता दूँ)॥4॥

दोहा :

*** देव देव अभिषेक हित गुर अनुसासनु पाइ। आनेउँ सब तीरथ सलिलु तेहि कहँ काह रजाइ॥307॥

भावार्थ:

हे देव! स्वामी (आप) के अभिषेक के लिए गुरुजी की आज्ञा पाकर मैं सब तीर्थों का जल लेता आया हूँ, उसके लिए क्या आज्ञा होती है?॥307॥ चौपाई :

*** एकु मनोरथु बड़ मन माहीं। सभयँ सकोच जात कहि नाहीं॥ कहहु तात प्रभु आयसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई॥1॥

भावार्थ:

मेरे मन में एक और बड़ा मनोरथ है, जो भय और संकोच के कारण कहा नहीं जाता। (श्री रामचन्द्रजी ने कहा-) हे भाई! कहो। तब प्रभु की आज्ञा पाकर भरतजी स्नेहपूर्ण सुंदर वाणी बोले- ॥1॥

*** चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग मृग सर सरि निर्झर गिरिगन॥ प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी। आयसु होइ त आवौं देखी॥2॥

भावार्थ:

आज्ञा हो तो चित्रकूट के पवित्र स्थान, तीर्थ, वन, पक्षी-पशु, तालाब-नदी, झरने और पर्वतों के समूह तथा विशेष कर प्रभु (आप) के चरण चिह्नों से अंकित भूमि को देख आऊँ॥2॥

*** अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगतभय कानन चरहू॥ मुनि प्रसाद बनु मंगल दाता। पावन परम सुहावन भ्राता॥3॥

भावार्थ:

(श्री रघुनाथजी बोले-) अवश्य ही अत्रि ऋषि की आज्ञा को सिर पर धारण करो (उनसे पूछकर वे जैसा कहें वैसा करो) और निर्भय होकर वन में विचरो। हे भाई! अत्रि मुनि के प्रसाद से वन मंगलों का देने वाला, परम पवित्र और अत्यन्त सुंदर है-॥3॥

*** रिषिनायकु जहँ आयसु देहीं। राखेहु तीरथ जलु थल तेहीं॥ सुनि प्रभु बचन भरत सुखु पावा। मुनि पदकमल मुदित सिरु नावा॥4॥

भावार्थ:

और ऋषियों के प्रमुख अत्रिजी जहाँ आज्ञा दें, वहीं (लाया हुआ) तीर्थों का जल स्थापित कर देना। प्रभु के वचन सुनकर भरतजी ने सुख पाया और आनंदित होकर मुनि अत्रिजी के चरणकमलों में सिर नवाया॥4॥

दोहा :

*** भरत राम संबादु सुनि सकल सुमंगल मूल। सुर स्वारथी सराहि कुल बरषत सुरतरु फूल॥308॥

भावार्थ:

समस्त सुंदर मंगलों का मूल भरतजी और श्री रामचन्द्रजी का संवाद सुनकर स्वार्थी देवता रघुकुल की सराहना करके कल्पवृक्ष के फूल बरसाने लगे॥308॥

चौपाई :

*** धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआईं॥ मुनि मिथिलेस सभाँ सब काहू। भरत बचन सुनि भयउ उछाहू॥1॥

भावार्थ:

'भरतजी धन्य हैं, स्वामी श्री रामजी की जय हो!' ऐसा कहते हुए देवता बलपूर्वक(अत्यधिक) हर्षित होने लगे। भरतजी के वचन सुनकर मुनि वशिष्ठजी, मिथिलापति जनकजी और सभा में सब किसी को बड़ा उत्साह (आनंद) हुआ॥1॥

*** भरत राम गुन ग्राम सनेहू। पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू॥ सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन। नेमु पेमु अति पावन पावन॥2॥

भावार्थ:

भरतजी और श्री रामचन्द्रजी के गुण समूह की तथा प्रेम की विदेहराज जनकजी पुलकित होकर प्रशंसा कर रहे हैं। सेवक और स्वामी दोनों का सुंदर स्वभाव है। इनके नियम और प्रेम पवित्र को भी अत्यन्त पवित्र करने वाले हैं॥2॥

*** मति अनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे॥ सुनि सुनि राम भरत संबादू। दुहु समाज हियँ हरषु विषादू॥3

भावार्थ:

मंत्री और सभासद् सभी प्रेममुग्ध होकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सराहना करने लगे। श्री रामचन्द्रजी और भरतजी का संवाद सुन-सुनकर दोनों समाजों के हृदयों में हर्ष और विषाद (भरतजी के सेवा धर्म को देखकर हर्ष और रामवियोग की सम्भावना से विषाद) दोनों हुए।3॥

*** राम मातु दुखु सुखु सम जानी। कहि गुन राम प्रबोधीं रानी॥ एक कहहिं रघुबीर बड़ाई।एक सराहत भरत भलाई॥4॥

भावार्थ:

श्री रामचन्द्रजी की माता कौसल्याजी ने दुःख और सुख को समान जानकर श्री रामजी के गुण कहकर दूसरी रानियों को धैर्य बँधाया। कोई श्री रामजी की बड़ाई (बड़प्पन) की चर्चा कर रहे हैं, तो कोई भरतजी के अच्छेपन की सराहना करते हैं॥4॥

दोहा :

*** अत्रि कहेउ तब भरत सन सैल समीप सुकूप। राखिअ तीरथ तोय तहँ पावन अमिअ अनूप॥309॥

भावार्थ:

तब अत्रिजी ने भरतजी से कहा- इस पर्वत के समीप ही एक सुंदर कुआँ है। इस पवित्र, अनुपम और अमृत जैसे तीर्थजल को उसी में स्थापित कर दीजिए॥309॥